अगले लेख के सम्बन्ध में

आगे मुद्रित होनेवाला 'शरीर में आत्मा का वेद-प्रतिपादित निवास-स्थान' शीर्षक लेख मूलतः 'वेदवाणी' पत्रिका (काशी) वर्ष ६ अङ्क १, वि० सं० २०१० मास कार्तिक के विशेषाङ्क में स्वल्प शीर्षकभेद से छपा था। यही परिष्कृत होकर 'सरस्वती' पत्रिका के मई १९५६ के अङ्क में मुद्रित हुआ था। उसे ही यहां पुनः परिष्कृत एवं परिवर्धित करके छाप रहे हैं। लेख का प्रधान आधार अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त २ मन्त्र ३१-३३ हैं। इनमें उल्लिखित त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यय कोशरूप स्थान का निश्चय प्रधानतया भिषक्प्रवर श्री गणनाथसेन के सचित्र प्रत्यक्ष शारीर ग्रन्थ के आधार पर किया है। कुछ अपने चञ्चुप्रवेश-मात्र आयुर्वेद के ग्रन्थों के ज्ञान पर आश्रित है। दिसम्बर १९६४ की 'आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका' में पीयूषपाणि श्री स्वामी कृष्णानन्द जी कालेड़ा, कृष्णगोपाल फार्मेसी (अजमेर) का एक लेख 'ओज—सेरिब्रोस्पाइनल फ्लूड' शीर्षक से छपा है। उसमें ओजस्तत्त्व के विवरण के प्रसंग में ओजस्तत्त्व के आधारभूत हृदय का भी वर्णन किया गया है। अतः उक्त लेख से स्वलेखोपयोगी अंश हम स्वकीय लेख के पश्चात् श्री स्वामी जी के नाम से ही दे रहे हैं। इसी लेख के अन्त में लिखा है—

'विशेष विचार—"आत्मा का निवासस्थान हृदयप्रदेश" शीर्षक लेख, जो आयुर्वेद के प्रमाणों के सहित प्रकाशित होगा, उसमें किया जायगा।'

यह लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया। यहां श्री स्वामी जी के लेख का जो अंश हम छाप रहे हैं, उसमें बृहदारण्यक (४।२।३) का वचन विशेषरूप से विवेचनीय है।

—लेखक

वेद-प्रतिपादित
शरीर में आत्मा का निवास-स्थान

जो व्यक्ति आत्मा को उत्पत्तिविनाशधर्मा मानते हैं, अर्थात् शरीर के अतिरिक्त किसी नित्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते[1], उनके मत में यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता कि आत्मा शरीर के किस स्थान में निवास करता है ? इसी प्रकार जो आत्मा को शरीर से पृथक् नित्य मानते हुए भी उसे सर्वव्यापक मानते हैं[2], उनके मत में भी यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। यह प्रश्न तो केवल उनके मत में ही उत्पन्न होता है, जो आत्मा को शरीर से पृथक् नित्य पदार्थ मानते हुए उसे अणु परमाणु वा परिच्छिन्न परिमाणवाला मानते हैं।

तीन मत

आत्मा के शरीर में निवासस्थान के विषय में तीन मत प्रचलित हैं। कोई आत्मा का निवास मस्तिष्क में मानते हैं, कोई हृदय में, और कोई सुषुम्णा नाड़ी में।

१—अनेक प्राचीन विद्वान् आत्मा का निवास मस्तिष्क में मानते हैं। उनका कहना है कि शरीर में व्याप्त समस्त सूक्ष्म संवेदनात्मक ज्ञान-तन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क है, वहीं बुद्धि का निवास है, और वहीं से समस्त शारीरिक चेष्टाओं का नियमन होता है। अतः चेतन अर्थात् संवेदक आत्मा का निवास मस्तिष्क में होना चाहिये।

२—जो व्यक्ति आत्मा का निवास हृदय में मानते हैं, वे अपने मत की पुष्टि में उपनिषदों और आयुर्वेद के उन प्रमाणों को उपस्थित करते हैं, जिनमें आत्मा का निवास-स्थान हृदय बताया है। यथा –

---

१. पुरातन चार्वाक मतानुयायी एवं आधुनिक विकासवादी।

२. नैयायिक आदि दार्शनिक।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।कठो०२।६।१७

आत्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् । चरक, निदान०, अ० ८।३।।

३—कतिपय व्यक्ति सुषुम्णा में जीव का निवास मानते हैं । उनका कथन है कि इस ऊर्ध्वमूल अधःशाख शरीररूपी वृक्ष का मूल आधारभूत तना मेरुदण्ड है । और उसके मध्य में सुषुम्णा नाड़ी है, जिसमें से सहस्रों तन्तु निकलकर इस समस्त शरीररूपी वृक्ष को कार्यक्षम बनाते हैं । अतः आत्मा का निवास भी सुषुम्णारूपी केन्द्रस्थान में ही होना चाहिए ।

इस लेख में इस बात की विवेचना की जायेगी कि इनमें से कौनसा मत वेद-प्रतिपादित और प्रामाणिक है । तथा जिन वचनों के आधार पर जीव के विविध निवास-स्थानों की कल्पना की जाती है, उनमें परस्पर कोई सामञ्जस्य हो सकता है वा नहीं ? इसकी विवेचना हम इस लेख में अति संक्षेप से करेंगे ।

वेद और आत्मा का निवास-स्थान

सब से प्रथम हम वेद के उस प्रकरण को उपस्थित करते हैं, जिसमें आत्मा के निवास-स्थान का वर्णन मिलता है ।

अथर्ववेद के दशम काण्ड का द्वितीय सूक्त 'केनपार्ष्णी' नाम से प्रसिद्ध है । इसका ऋषि नारायण है, और देवता=प्रतिपाद्य विषय पुरुष= ब्रह्म-प्रकाशन है । इसमें ३१वां तथा ३२वां मन्त्र साक्षात् ब्रह्म-प्रकाशक कहा जाता है[1] । यह सूक्त केन उपनिषद् का मूल आधार है । केन उपनिषद् की प्रवचन-शैली में इसी सूक्त का अनुकरण किया गया है । अतः वेद का यह केनपार्ष्णी सूक्त इस प्रकार की प्रतिपादनशैली का सब से प्राचीनतम उदाहरण है ।

हम इस सूक्त में से कतिपय वे मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनसे आत्मा के शरीरगत विशिष्ट निवासस्थान के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः[2] ।।२७।।

---

१. देखो—अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी, तथा तदनुसार मुद्रित अथर्ववेदीय ऋषिनिर्देश ।

२. तुलना करो—'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।।' मुण्डकोप० २।२।७।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥३१॥

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः[1] ॥३२॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥३३॥

अन्त के ३२वें तथा ३३वें मन्त्र में प्रतिपादित विषय का संक्षेप से और समानरूप से प्रतिपादन करनेवाला एक अन्य अथर्ववेदीय मन्त्र इस प्रकार है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥१०।८।४३॥

इन मन्त्रों का शब्दार्थ करने से पूर्व निम्न पदों का तात्पर्य समझना आवश्यक है ।

मन्त्रों में प्रयुक्त विशिष्ट पद और उनका विवरण

१—देव, २—देवकोश, ३—प्राण, ४—अन्न, ५—मन, ६—हिरण्यय कोश, ७—हिरण्ययी पुरी, ८— स्वर्ग, ९—ज्योतिषावृत, १०—त्र्यर, ११—त्रिप्रतिष्ठित, १२—यक्ष, १३—आत्मन्वत्, १४—ब्रह्मा ।

अब हम क्रमशः एक एक पद पर प्रकाश डालते हैं—

१. देव—द्वितीय मन्त्र में शरीर को देवों की पुरी कहा है । ये देव पुरुष की ज्ञानेन्द्रियां हैं । इनके द्वारा ही आत्मा सांसारिक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध करता है । तथा इन्हीं के द्वारा समस्त सांसारिक व्यवहारों को सिद्ध करने में समर्थ होता है । इस कारण इन्द्रियों को देव कहते हैं—

देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त ७।१५) ।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युति…(धातुपाठ) ।

चक्षुर्देवः । गोपथ पू० २।१० (११) ।

वाग् देवः । गोपथ पू० २।१० (११) ।

---

१. मन्त्र ३१, ३२ के साथ तुलना करो—'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥'
मुण्डकोप० २।२।९।

शरीर में देवाधिदेव इन्द्र (=आत्मा) से संबद्ध[1] इन्द्रियरूपी देवों का वास होने से इस शरीर को 'देवों की पुरी' कहा है।

२—देवकोश—प्रथम मन्त्र में शिर को 'देवकोश' कहा है। देव का अर्थ ज्ञानेन्द्रियां हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियों के बाह्य स्थूलरूप शिरोभाग में विद्यमान हैं (त्वक् इन्द्रिय शरीरव्यापी है)। परन्तु इन इन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का केन्द्र मस्तिष्क में ही है। इन्द्रियों का वास्तविक स्वरूप शक्त्यात्मक ही है,[2] क्योंकि बाह्य स्वरूपों के सर्वथा नीरोग होने पर भी शक्ति के ह्रास अथवा उत्सन्न हो जाने से श्रवण दर्शन आदि क्रियाएं नहीं होतीं। अतः यहां देवकोश शब्द मस्तिष्क का ही वाचक है[3]। इसी देवकोश को अथर्ववेद ६।६५।१ में देवसदन कहा है। 'देवकोश' का अर्थ मस्तिष्क करने पर ही तृतीय मन्त्र में उल्लिखित 'हिरण्ययकोश' विशेषण का ठीक सामंजस्य होता है (देखो—'हिरण्ययकोश' की व्याख्या)। इसलिए तदेकदेश-न्यायानुसार इस मन्त्र में निर्दिष्ट शिर शब्द से शिर के एक देश मस्तिष्क का ही अर्थ अभिप्रेत है।

३—प्राण—वैदिक वाङ्मय में 'प्राण' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। परन्तु प्रथम मन्त्र में प्राण को शिर, देवकोश, मस्तिष्क तथा अन्न और मन का रक्षक कहा है। यह प्राण भौतिक वायु नहीं है, अपितु जीव का वाचक है। 'प्राणो हि प्रियः प्रजानाम्' (तै० ब्रा० २।३।६।५) में प्राण

---

१. द्रष्टव्य—'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥' कठोपनिषद् २।५।३॥ प्राणापानक्रिया का करनेवाला वामन (=वामः श्रेष्ठः, वामं रूपमस्य स वामनः। अष्टा० ५।२।१०० से मत्वर्थीय 'न' प्रत्यय) आत्मा की विश्वे देव=सभी इन्द्रियां उपासना करती हैं। देवों=इन्द्रियों के मध्य में आसीन वामन=आत्मा मस्तिष्क में ही रहता है, अन्यत्र नहीं।

२. द्र०—इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। अष्टाध्यायी ५।२।९३॥

३. अत एव सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से कही है—अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं च। विना भौतिक उपष्टम्भ के इन्द्रियां कार्य में समर्थ नहीं होतीं, इसलिये नैयायिक इन्हें भौतिक मानते हैं। द्र०—न्यायदर्शन अ० ३, आ० १, इन्द्रिय-परीक्षा प्रकरण।

शब्द का अर्थ आत्मा ही है। यही इस भौतिक शरीर में अमृतस्वरूप है। इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राण को अमृत कहा है—'अमृतं वै प्राणः' (कौ० ब्रा० ११।४।१४।४ इत्यादि)। भौतिक प्राणवायु नाशवान् है, अतः उसके लिये अमृत शब्द का व्यवहार उपयुक्त नहीं हो सकता। अथर्ववेद के 'प्राणसूक्त' (१०।४) में प्राण शब्द से जीव की ही महिमा का वर्णन किया है। लोक में जीवयुक्त सचेतन शरीर का ही 'प्राणी' शब्द से व्यवहार होता है। अतः स्पष्ट है कि प्राण शब्द मुख्यतया जीव का ही वाचक है। प्राण अपान आदि भौतिक वायुओं के लिये प्राण शब्द का व्यवहार 'प्राण=जीव' के साहचर्य के कारण लक्षणावृत्ति से होता है।

४-५—अन्न, मन—यहां अन्न और मन से 'पदेषु पदैकदेशान्' (=पदों के स्थान पर पदों के एकदेश का प्रयोग होता है) न्याय से अन्नमय और मनोमय कोशों का निर्देश है। इनकी विशेष व्याख्या उपनिषदों में देखनी चाहिये।

६—हिरण्मयकोश—द्वितीय मन्त्र में अष्टचक्रा नवद्वारा देवों (=इन्द्रियों) की पुरी से हिरण्मयकोश का उल्लेख किया है। इसी को 'स्वर्ग' और 'ज्योतिषावृत' (=ज्योति से ढका हुआ) कहा है। अगले मन्त्र में इसी हिरण्मयकोश के 'त्रिप्रतिष्ठित त्र्यर' स्थान में 'आत्मन्वत् यक्ष' की स्थिति कही है। इसलिये पहले यह विचारना चाहिए कि मन्त्रोक्त हिरण्मयकोश की स्थिति शरीर में कहां है ?

वैयाकरणों के मतानुसार हिरण्मय शब्द मयट्प्रत्ययान्त है[1]। इस पद में मयट् 'आनन्दमय' के समान प्रकृत अर्थात् प्राचुर्य से प्रस्तुत[2] अर्थ में हुआ है। तदनुसार 'हिरण्मय' शब्द का अर्थ होगा—हिरण्य के प्राचुर्य=प्राधान्य से निर्मित वस्तु। इस देवपुरी शरीर में ऐसा कौनसा अवयव है, जो हिरण्य के प्राचुर्य से बना हुआ है। इसके विषय में शरीर-शास्त्र-निष्णातों का कथन है

---

१. द्र०—ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि। अष्टाध्यायी ६।४।१७५ सूत्र से 'हिरण्मय' के 'मयट्' के मकार का वेद में लोप दर्शाया है। कई वैदिक ग्रन्थों में 'हिरण्मय' शब्द का भी प्रयोग होता है, वहां 'हिरण्यय' के यकार का लोप जानना चाहिए, अथवा हिरण्यार्थक 'हिरण्' प्रकृत्यन्तर है।

२. तत्प्रकृतवचने मयट् (अष्टा० ५।४।२१)—प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम्

का ।

कि मस्तिष्क में एक ऐसा अवयव है, जो हल्के पीले (=धूसर) वर्णवाले पदार्थ के बाहुल्य से बना हुआ है[1]। योगीजन इसे 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। यह वाम और दक्षिण भेद से दो विभागों में विभक्त है[2]। इन दोनों की आकृति मनुष्य के अंगुष्ठ-पर्व से मिलती-जुलती है[3]। यही समस्त ज्ञान तथा चेष्टा-तन्तुओं का केन्द्र है। इस अवयव के अतिरिक्त शरीर में और कोई ऐसा अवयव नहीं है, जो हल्के पीले वर्ण-बहुल पदार्थ से बना हुआ हो। अतः वेद का 'हिरण्मयकोश' यही आज्ञाचक्र हो सकता है।

इतना ही नहीं, वेद में इसी 'हिरण्मयकोश' को स्वर्ग भी कहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्ग को ऊर्ध्वलोक कहा है—"ऊर्ध्वमु वै स्वर्गो लोकः, उपरीव स्वर्गो लोकः" (तै० ब्रा० ३।२।१।१५)। इस ब्रह्माण्ड में स्वर्ग आदित्यलोक है, पृथिवी पर स्वर्ग त्रिविष्टप (=तिब्बत) है, और इस शरीर में स्वर्ग यही मस्तिष्क का अवयवभूत हिरण्ययकोश है। तीनों ही ऊर्ध्वभाग में निहित हैं। आदित्य में अजर अमर देवों=किरणों का वास है, त्रिविष्टप में मानुष देव-जाति का निवास है, और इस हिरण्ययकोश में देवों=इन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का संनिवास है। इसीलिये कहा है—'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' अर्थात् जैसी रचना ब्रह्माण्ड की है, वैसी ही शरीर की है।

७—स्वर्ग—मन्त्र में हिरण्यय कोश को स्वर्ग कहा है। इसकी व्याख्या हम पूर्व कर चुके हैं।

८—ज्योतिषावृत—मन्त्र में हिरण्ययकोश को 'ज्योति से आवृत' (=ढका हुआ) कहा है। पूर्वोक्त आज्ञाकन्दों के (धूसरवर्ण)होने के कारण वेद का उन्हें ज्योतिषावृत कहना सर्वथा उपयुक्त है। कठोपनिषद् अ० २,वल्ली ४,कं० १३ में भी अङ्गुष्ठपर्वमात्र पुरुष को धूमरहित ज्योति से अर्थात् चमकते हुए अङ्गारों से उपमा दी है।[4] उपनिषद् का अङ्गुष्ठमात्र पुरुष इस वेद का हिरण्यय कोश ही है, क्योंकि इस हिरण्यय कोश का आकार भी अङ्गुष्ठपर्व के सदृश है। यह हम पूर्व कह चुके हैं।

---

१. आज्ञाकन्दो नाम···धूसरवस्तुभूयिष्ठो कन्दो ब्रह्मगुहामुभयतो वर्तते। गणनाथसेन कृत प्रत्यक्षशारीर भाग ३, अ० ६, पृष्ठ ७९।।

२. द्र०—प्रत्यक्षशारीर का पूर्वोक्त उद्धरण।

३. देखो—प्रत्यक्षशारीर भाग ३, पृष्ठ ८५ पर संख्या २२१ का चित्र।

४. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।

९—त्र्यर—त्र्यर शब्द का अर्थ है—तीन अरोंवाला अर्थात् त्रिकोण। मन्त्र को सामान्य दृष्टि से देखने पर त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित पद हिरण्ययकोश के विशेषण प्रतीत होते हैं। परन्तु एक ही मन्त्र में दो बार 'तस्मिन्' पद का निर्देश होने से इस मन्त्र के दो वाक्य बनाने होंगे। इतना ही नहीं, हिरण्ययकोश को आकृति अङ्गुष्ठपर्व सदृश है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिये त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित पद हिरण्ययकोश के विशेषण नहीं बन सकते। इन कारणों से 'त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते' पदों का सम्बन्ध उत्तर 'तस्मिन्' पद के साथ जोड़ना चाहिए। तदनुसार जिस स्थान में 'आत्मन्वत् यक्ष' की स्थिति उक्त मन्त्र में बताई है, वह स्थान त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित है, और वह हिरण्ययकोश के मध्य में है। दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में 'ब्रह्मगुहा' नामक एक त्रिकोण परिखाकार स्थान है[1]। इसे ही वेद में त्र्यर पद से कहा है।

१०—त्रिप्रतिष्ठित—त्रिप्रतिष्ठित शब्द का अर्थ है—तीन स्थानों पर ठहरा हुआ, अथवा तीन आधारों पर आधृत। उपर्युक्त हिरण्ययकोश (आज्ञाकन्दों) के मध्य में वर्तमान जो त्र्यर (=ब्रह्मगुहा) स्थान है, वह गुहान्तरालिक-विवरद्वार द्वारा दो ओर से दोनों त्रिपथगुहाओं से सम्बद्ध है। और तीसरी ओर ब्रह्मद्वार सुरङ्ग द्वारा प्राणगुहा से सम्बद्ध है[2]। इसीलिये वेद में भी 'त्र्यर' को त्रिप्रतिष्ठित कहा है।

११—यक्ष—यह शब्द 'यक्ष पूजायाम्' धातु से बनता है। अध्यात्म में 'यक्ष' शब्द जीव और ईश्वर दोनों का वाचक है। अथर्ववेद के तीन अध्यात्म-प्रकरणों में चार बार यक्ष शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इन प्रकरणों में जहां-जहां ज्येष्ठ ब्रह्म (=परमात्मा) का वर्णन है, वहां-वहां यक्ष का विशेषण 'महत्' दिया है। देखो—अथर्ववेद १०।७।३८; १०।८।८५॥ और जहां-जहां जीव का वर्णन है, वहां-वहां यक्ष का विशेषण 'आत्मन्वत्' उपलब्ध होता है। देखो— अथर्ववेद १०।२।३२; १०।८।४३॥ प्रकृत मन्त्रों में यक्ष को नवद्वार-

---

१. ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरेखायां दृश्या गुहा तनुत्रिकोणपरिखाकारा। तदेव क्वचिद् ब्रह्महृदयमिति हृदयमिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्चः॥ प्रत्यक्षशारीर भाग ३, अ० ६, पृ० ८२।

२. सा च गुहायाः पुरस्तादूर्ध्वं त्रिपथगुहाभ्यां सम्बन्धवती 'गुहान्तरालिक' विवरद्वारेण, पश्चिमतश्च प्राणगुहया 'ब्रह्मद्वारसुरङ्गा'मार्गेण॥ प्रत्यक्ष-शारीर भाग ३, अ० ६, पृ० ८२।

युक्त[1] देवपुरी के अन्तर्गत 'क्षर' (=ब्रह्मगुहा) स्थान में विद्यमान कहा है। अतः यह यक्ष शब्द निश्चय ही जीव का वाचक है।

१२—आत्मन्वत्—आत्मा शब्द जीव और ईश्वर दोनों का वाचक है। यह लोकप्रसिद्ध है। परन्तु आत्मा शब्द शरीर का भी वाचक है, यह केवल विद्वान् ही जानते हैं। 'हन्त्यात्मा आत्मानम्' (महाभाष्य १।३।६७) इत्यादि वाक्य में एक आत्मा शब्द जीव का और दूसरा शरीर का वाचक है। अथर्ववेद में जहां-जहां 'आत्मन्वत्' विशेषण के साथ 'यक्ष' का वर्णन है, वहां-वहां नवद्वार पुरी अथवा 'पुण्डरीक' (गृह) का भी उल्लेख है[2]। आत्मन्वत् शब्द का अर्थ है—आत्मावाला(=आत्माऽस्यास्तीति)। इससे स्पष्ट है कि तृतीय मन्त्र में प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' शब्द में आत्मा शब्द शरीर का वाचक है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—"आत्मा वै तनूः' (शत० ६।७।२।६; ७।३।१।२३; ७।५।२।३२); 'पांक्त इतर आत्मा लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा' (ताण्ड्य ब्रा० ५।१।४); 'आत्मा वै पूः' (शत० ७।५।१।२१)। इसलिये प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' शब्द का अर्थ है—शरीरवाला=शरीर से युक्त।

१३—ब्रह्मा—इसका मूल शब्द है—ब्रह्मन्। यह पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग (ब्रह्मा-ब्रह्म) भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही प्रकार का ब्रह्मन् शब्द अध्यात्म में जीव और ईश्वर दोनों के लिये प्रयुक्त होता है[3]। जहां ब्रह्मन् के साथ 'ज्येष्ठ'[4] अथवा 'महत्' आदि विशेषण प्रयुक्त होते हैं, वहां यह निश्चितरूप से ईश्वर का ही बोधक होता है। अन्यत्र प्रकरण आदि के अनुसार इनके वाच्य का निश्चय किया जाता है। प्रकृत चतुर्थ मन्त्र में हिरण्मयी पुरी में ब्रह्म के प्रवेश करने का उल्लेख है। अतः प्रकरणानुसार इस मन्त्र में प्रयुक्त 'ब्रह्मा' पद निश्चितरूप से 'जीव' का ही वाचक है,[5] ईश्वर का नहीं।

---

१. कठोपनिषद् २।२।१ में एकादशद्वार युक्त पुर का उल्लेख है—'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।'

२. अथर्ववेद १०।८।४३॥

३. वस्तुतः यक्ष, पुरुष, ब्रह्म, ब्रह्मा, आत्मा आदि जितने पद जीव और ईश्वर के वाचक हैं, वे सब अध्यात्म में शरीर के और अधिदैवत में ब्रह्माण्ड के भी वाचक हैं।

४. तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्व १०।८।१॥

५. अथर्व १०।२ के अनेक मन्त्रों में इसका उल्लेख है—'पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।' अथर्व १०।२।३०॥

उक्त मन्त्रों का सामूहिक अर्थ

अब सामूहिक रूप से चारों मन्त्रों को पढ़ने से इनका निम्न अभिप्राय स्पष्ट होता है—

"आठ चक्रों और नवद्वारों से युक्त देवों की अयोध्या तथा अथर्वा नाम्नी नगरी के शिरस्थान में हिरण्मय देवकोश है। उसके भीतर तीन ओर से संबद्ध त्रिकोण स्थान में आत्मन्वत् यक्ष ब्रह्मा (=जीव) निवास करता है।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मस्तिष्कान्तर्गत पीताभ वर्णवाले दोनों आज्ञा-कन्दों के मध्य में जो त्रिकोण परिखाकार स्थान है, उसमें जीवात्मा निवास करता है। इसीलिये योगीजन इस त्रिकोण परिखाकार स्थान को ब्रह्मगुहा नाम से पुकारते हैं।[1] यही सप्तम सत्यनामक सप्तम लोक स्वर्ग है।[2] इसी में ब्रह्म=जीव निवास करता है।[3]

---

१. द्र०—पृष्ठ २१०, टिप्पणी १; तथा पृष्ठ २११ टिप्पणी १

२. द्र०—'सप्तमे उ लोके ब्रह्म।' जै० ब्रा० १।३३३, पृष्ठ १३९। इन्हीं सात लोकों को वैदिक ग्रन्थों में भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् रूप सप्त व्याहृतियों के रूप में स्मरण किया है। पुराणों में जो सात स्वर्ग कहे हैं, वे इस पिण्ड=शरीर में नाभि से ऊपर वर्तमान सात स्थान हैं। इनमें देवगण निवास करते हैं। सत्य नामक स्वर्ग में देवाधिदेव इन्द्र=आत्मा निवास करता है।

३. कुरान में खुदा को सातवें आसमान में रहनेवाला कहा है, उसका मूल भी यही है। पुराणप्रसिद्ध सात पाताल भारत के पश्चिमी सीमा समीपवर्ती सात महाप्रदेश हैं (देखो—श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५२, प्रथम संस्करण) । देवों ने असुरों को पराजित करके स्वर्ग (त्रिविष्टप=तिब्बत) से निकालकर उन्हें पाताल में डाल दिया था। अरब, मिस्र, ईरान, यूनान आदि के निवासी उन्हीं असुरों की सन्तान हैं। अतः इनमें आसुरी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। असुर लोग आत्मा के अतिरिक्त ब्रह्म को नहीं मानते थे। उनके लिये यही जीवात्मा ब्रह्म था। अतः कुरान में उसी सप्तम स्वर्गलोक में विद्यमान जीव को 'खुदा' कहा है। पारसियों का 'अहुर' देव भी 'असुर' ही है। बाईबल में खुदा को चौथे आसमान पर रहनेवाला कहा है। उसका मूल 'ओम् महः पुनातु हृदये' यह चतुर्थ व्याहृति मन्त्र प्रतीत होता है।

इसी भाव को माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया है—'हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका' हुआ है, उस सत्यरूपी आदित्य में वर्तमान जो पुरुष है, वह मैं हूं"।[1] यहां हिरण्मय पात्र से अभिप्राय उक्त पीताभ आज्ञाकन्दों से है। इनके लिए पात्र शब्द का प्रयोग सर्वथा युक्त है। क्योंकि जैसे पात्र किसी वस्तु का आधार होता है, उसी प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त ज्ञानवाहक तथा चेष्टावाहक तन्तुओं के केन्द्र ये आज्ञाकन्द ही हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य को आदित्य कहा है—'तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यः' (शत० ६।४।१।१२); 'असौ वा आदित्यः सत्यम्' (तै० ब्रा० २।१।११।१)। ब्रह्माण्ड में जो आदित्य है, वह पिण्ड में शिर है। इसलिये मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है कि उस सत्यरूपी आदित्यलोक में जो वर्तमान है, वह मैं (=खुदा) अर्थात् जीवात्मा हूं।

खं ब्रह्म

ओं क्रतो स्मर (यजु० ४०।१५)—इस मन्त्र में मृत्यु के समय जीवात्मा के लिये जिस ओम् का स्मरण करने का विधान किया है, उस 'ओम्' का लक्षण आगे बताया है—'ओं खं ब्रह्म।' अर्थात् ओम् नाम 'ख' ब्रह्म का है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वैदिक ग्रन्थों में 'ब्रह्म' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है।[2] परन्तु जहां पर केवल 'पर-ब्रह्म' का निर्देश अभिप्रेत होता है, वहां स्पष्टता के लिये 'महत्' 'बृहत्' 'खं' आदि कोई न कोई विशेषण अवश्य प्रयुक्त होता है। 'खं' नाम आकाश का है, अतः 'ख ब्रह्म' का अर्थ हुआ ख=आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म। तदनुसार सर्वव्यापक ब्रह्म का नाम ओम् है। और आदित्य (=सत्य) अर्थात् ब्रह्म-गुहा में वर्तमान जो पुरुष है, वह क्रतु=कर्म करनेवाला जीव है। संध्या के मार्जनमन्त्रों में भी इसी भाव को व्यक्त किया है। वहां महाव्याहृत्यात्मक सप्त स्वर्गलोकों का निर्देश करके अन्त के 'खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र' मन्त्र में ब्रह्म को सर्वव्यापक अर्थात् किसी लोक विशेष से असंबद्ध बताया है।

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ यजु० ४०।१७॥

२. ब्रह्मपद शरीर का भी वाचक है, यह पूर्व लिख चुके हैं। ब्रह्माण्ड शब्द में ब्रह्म शब्द जगत् का वाचक है। वह अण्ड अर्थात् अण्डाकार गोल है। यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म का शरीर है। अतः आत्मा के समान ब्रह्म पद भी शरीर जीव और ईश्वर तीनों का वाचक है।

कं ब्रह्म

'ख' से पूर्ववर्ती 'क' शब्द है। यह शिर के लिये प्रयुक्त होता है[1]। केश शिर के बाल कहाते हैं—'के शेरते केशाः' शिर में होनेवाले।[2] 'क' के साथ ही 'काय' शब्द का सम्बन्ध है। कपाट शब्द में वर्तमान 'क' भी शिर ही है—'कं शिरः पाटयतीति कपाटः।[3] इसलिये 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छां० उ० ४।१०।५) में क ब्रह्म शिर स्थानीय जीवात्मा है, और ख ब्रह्म आकाशवत् सर्वव्यापक ब्रह्म परमात्मा।

इस प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर में जीव का निवासस्थान मस्तिष्कान्तर्गत दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में वर्तमान ब्रह्मगुहा ही है। शरीर में उक्त अवयवातिरिक्त अन्य कोई अवयव ऐसा नहीं है, जो वेद के—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ॥
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥[4]

वर्णन के अनुकूल हो।

अब केवल एक विचार शेष रह जाता है कि जिन वचनों में आत्मा का निवास 'हृदय' में कहा है, वहां 'हृदय' शब्द का वाच्य उरःस्थानीय लोकप्रसिद्ध शरीरावयव ही है, वा अन्य ?

हृदय शब्द की मीमांसा

हृदय शब्द का अर्थ—हमारा विचार है कि वैदिक वाङ्मय में किसी भी शब्द का प्रकरण विशेष के विना सम्प्रति लोकप्रसिद्ध अर्थ लेना अन्याय है। यदि ऐसा ही दुराग्रह किया जाए, तो यास्क का 'समुद्र' शब्द को अन्तरिक्ष नाम में पढ़ना[5] अयुक्त होगा, क्योंकि लोक में समुद्र पद पार्थिव समुद्र में ही

---

१. द्र०—'कं समारभ्य मेधावी ततो ह्यङ्गानि विन्यसेत्।' भविष्य पुराण के नाम से वीरमित्रोदय पूजाप्रकाश पृष्ठ २०२ पर उद्धृत। वहां 'कं शिरः' ऐसा व्याख्यान किया है। 'कं मस्तके' द्र०—हैमलघुन्यास, पत्रा २२ख, अव्ययार्थ में।

२. क्षीरस्वामी, अमर टीका २।६।६५॥

३. तु०—क्षीरस्वामी, अमरटीका

४. अथर्व १०।२।३२॥

५. निघण्टु १।३; निरुक्त २।१०॥

प्रयुक्त होता है । उस अवस्था में 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्' (ऋ० १०।९८। ५) की कोई व्याख्या ही नहीं हो सकती । इसी प्रकार 'वृत्र' शब्द लोक में त्वष्टा नामक असुर के पुत्र के अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु नैरुक्त 'वृत्र' शब्द का अर्थ 'मेघ' करते हैं।[1] वेद में 'वृत्र' शब्द त्वाष्ट्र असुर शब्द का वाचक नहीं है, अपि तु मेघ का ही वाचक है । इसकी सिद्धि यास्क ने अत्यन्त प्रबल प्रमाणों से की है । इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद में सम्प्रति लोकप्रसिद्ध अर्थ ही नहीं लेना चाहिये । यहां यह भी विचारणीय है कि क्या उपनिषदों के उन वचनों में, जिनमें आत्मा का निवास हृदय में लिखा है—'हृदय शब्द का लोकप्रसिद्ध अर्थ उरःस्थानीय एतन्नाम्ना प्रसिद्ध शरीरावयव ही समझना चाहिए, अथवा इसका वाच्य कोई अन्य पदार्थ है ?

पूर्वोक्त अथर्ववेद के मन्त्रों से इतना स्पष्ट है कि जीव का निवास लोकप्रसिद्ध उरःस्थानीय शरीरावयव में नहीं है, मस्तिष्क में है । ऐसी अवस्था में क्या औपनिषद वचन का वेद से विरोध माना जाये, अथवा हृदय शब्द के अन्यार्थ का अनुसंधान किया जाये ?

इस पर विचार करने से पूर्व यह विचारना आवश्यक है कि 'हृदय' शब्द का मूल अर्थ क्या है ? शतपथ ब्राह्मण (१४।८।४।१) में हृदय शब्द की निरुक्ति 'हृ द यम्' इन तीन शब्दों से मानी है । तदनुसार इनका अर्थ—

हृ—हृञ् हरणे=हरण करना, लेना ।

द—डुदाञ् दाने=देना

यम्—यमु उपरमे=रोकना

अर्थात् जो शरीरावयव ये तीनों क्रियाएं करता है, वह 'हृदय' कहाता है ।

भारतीय अध्यात्मविदों का एक सामान्य सूत्र है—'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' इसी तत्व का मूलभूत याजुष मन्त्र इस प्रकार है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ।। यजु० ७।५।।

अर्थात्—हे मघवन्=इन्द्र=जीव ! तेरे शरीर के भीतर ही द्युलोक पृथिवीलोक एवं विस्तीर्ण अन्तरिक्षलोक को स्थापित करता हूं । तू अवर और

---

१. निघण्टु १।१०; निरुक्त २।१६।।

पर देवों (=कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों) के साथ अन्तर्याम (=सब इन्द्रियों के नियमन करनेवाले) स्थान में वर्तमान हो मुदित रह।

यह अध्यात्मविदों द्वारा जाना गया तत्त्व अध्यात्म-ज्ञान की वास्तविक कुञ्जी है। इससे अध्यात्मसम्बन्धी अनेक रहस्य उद्घाटित हो जाते हैं। हृदय शब्द के अर्थ की समस्या भी उक्त तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर बड़ी सुगमता से सुलझ जाती है।

हृदय और समुद्र का साम्य

इस शरीर में उरःस्थानीय हृदय का जो कार्य और महत्त्व है, वह इस ब्रह्माण्ड में समुद्र का है। यास्क ने समुद्र शब्द का निर्वचन दर्शाया है—'समुद्रवन्त्यस्मादापः, समुद्रवन्त्येनमापः (निरुक्त २।१०), अर्थात् जहां से आपः (=जल) दौड़ते हैं, और जिसके प्रति आपः (=जल) दौड़ते हैं, वह समुद्र है। पार्थिव समुद्र के प्रति समस्त आपः दौड़ते हैं, और इसी से वाष्परूप होकर आपः [ऊपर को] दौड़ते हैं। और गमनागमन के साथ उसमें जल स्थिर भी रहता है। ऊपर शतपथ के अनुसार हृदय शब्द का जो अर्थ बताया था, वह पूर्णरूप से समुद्र में घटित होता है। अतः लोकसम्मितोऽयं पुरुषः'[1] (चरक शरीरस्थान अ० ४।१३ तथा ५।२-४) के मतानुसार ब्रह्माण्ड में जो समुद्र है, वह शरीर में हृदय है। अतः समुद्रीय मुक्ता प्रवाल आदि हृदय के लिये परम औषध माने गए हैं।

समुद्र और हृदय की अनेकता—ब्रह्माण्ड में तीन समुद्र हैं—'त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गान्' (यजुः १३।३१)। ये तीन समुद्र हैं—एक पार्थिव (=पृथिवीस्थानीय), दूसरा अन्तरिक्षस्थ, तीसरा द्युस्थ। प्रथम में जल स्थूल रूप में है, और द्वितीय में वाष्परूप में। द्यु में आपः सोम हैं—'आपो वै सोमः' (तु०—श० ७।१।१।२२)। प्रथम और द्वितीय समुद्र का वर्णन 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्' (ऋ० १०।९८।५) में स्पष्ट मिलता है। यास्कीय निर्वचन इन दोनों समुद्रों को लक्षित करके लिखे गये हैं। द्युलोकस्थ आदित्य ही तृतीय समुद्र है। इसकी किरणें भी पार्थिव जल का हरण करके और उसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम करके अर्थात् सोमरूप में परिणत करके सूर्य तक पहुंचाती हैं। और अग्नि में जलकर अत्यन्त सूक्ष्म होकर वही सोम किरणों के

---

१. एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे। यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति। बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति।

द्वारा वापस पृथिवी तक पहुंचता है, जिससे प्राणि एवं ओषधि वनस्पतियां जीवन धारण करती हैं। वेद में सोम की स्थिति सूर्य में ही कही है—'सोमो गौरी अधिश्रित:' (ऋ० ९।१२।३)। गौर आदित्य का नाम है, उसी का स्त्रीलिङ्ग है—गौरी। यथा सूर्य का सूर्यारूप। शतपथ ६।४।२।५ में लिखा है—'असौ वै (द्यु:)लोक: समुद्रो नभस्वान्'। 'नभ' का निर्वचन यास्क ने (निरुक्त २।१४) में भन (भा दीप्तौ+क्युन्) के आद्यन्तविपर्यय से दर्शाया है। अत: नभस्वान् का अर्थ है—दीप्तिमान्।

'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' अथवा 'लोकसम्मितोऽयं पुरुष:' के अनुसार ब्रह्माण्ड में आदान-प्रदान करनेवाले तीन समुद्र हैं, तो इस शरीर में भी आदान-प्रदान करनेहारे तीन हृदय अवश्य होने चाहिएं। तदनुसार शरीर में द्यु-स्थानीय समुद्र शिरस्थ मस्तिष्क है। यहीं सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तु हैं, जो आदान-प्रदान करते रहते हैं। पैर कांटे पर पड़ा कि झट से हटा लिया। पैर के कांटे पर पड़ने की सूचना मस्तिष्क में पहुंची, और तत्काल पैर हटाने का आदेश हुआ, पैर हट गया। इसके साथ ही मस्तिष्क में हिरण्यवर्ण=हलका पीत वर्णवाला द्रव द्रव्य है,[1] जिसे आयुर्वेद के जाननेवाले 'ओज' कहते हैं,[2] और ब्राह्मणग्रन्थों में इसे ही सोमरूप से वर्णित किया है।[3] यह वीर्यरूप आप: का सूक्ष्मतमरूप है, जो सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क में क्षरित होता है। यही ऋग्वेद के नवम मण्डल में पठित पवमान सोम है, जिसकी सम्पूर्ण मण्डल में महिमा गाई है। यही ओज वा सोम मस्तिष्क से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले तन्तुजाल द्वारा शरीर में सर्वत्र पहुंचकर

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २०९-२१० हिरण्ययकोष की व्याख्या।

२. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओज: शरीरे समाख्यातं तन्नाशात् ना विनश्यति। चरक सूत्रस्थान १७।७५॥ कहीं-कहीं सर्पिर्वर्णम् पाठ है। इसका तात्पर्य गोघृत के वर्ण से है। वही पीताभ होता है। ओज के विषय में चरक सूत्रस्थान ३०।९-१४ भी द्रष्टव्य है।

३. एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोम:। तै० ब्रा० १।३।२।२॥ ब्रह्माण्ड में यह सोम देवों=रश्मियों का अन्न है। इसी के जलने से सूर्य में प्रकाश वा ताप की उत्पत्ति होती है। और शरीर में यही सोम ओज है। इन्द्रियों का यही अन्न भक्ष्य है। इसी के कारण इन्द्रियां बलवान् होती हैं। यही बात 'सोम: सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (शत० १।६।३।२१) में भी कही है।

शरीर को ओजस्वी बनाता है। 'मरणं बिन्दुपातेन' का निर्देश इसी ओजरूप अष्टम धातु के लिये है।[1]

लोकप्रसिद्ध हृदय का भी यही कार्य है कि वह शरीर से दूषित रक्त ग्रहण करता है, और शुद्ध करके लौटा देता है। इस प्रकार शरीर और समुद्र का एक ही कार्य है।[2] ब्रह्माण्ड में तीन समुद्र है, उसी प्रकार पिण्ड=शरीर में भी तीन समुद्र है—नाभि, हृदय और मस्तिष्क।

नाभि का कार्य—जठराशय से निष्पन्न रस को ग्रहण करना, और २४ मुख्य धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाना।

हृदय का कार्य—पूर्व लिख चुके।

मस्तिष्क का कार्य--शरीर में व्याप्त ज्ञानतन्तुओं द्वारा शरीर के प्रत्येक स्थान से ज्ञान का आहरण कर मस्तिष्क तक पहुंचाना, और चेष्टावाहक तन्तुओं द्वारा शरीरावयवों का यथायोग्य परिचालन कराना।

पूर्व उद्धृत अथर्व की श्रुति में इस देवपुरी अयोध्या को अष्टचक्रा कहा है। चक्र का अभिप्राय यही होता है कि एक स्थान से चलकर वापस उसी स्थान पर पहुंच जाना। इस क्रिया के साधन ये आठ शरीरावय चक्र हृदयपदवाच्य भी हैं। इसीलिये शतपथ ६।१।२।४० में लिखा है—'निकक्षे निकक्षे हृदयम्।' अर्थात् प्रत्येक कक्ष=शरीरविभाग में हृदय है। इन आठ चक्ररूपी हृदयों में पूर्वोक्त नाभि हृदय और मस्तिष्करूपी समुद्र वा हृदय प्रधान है।

हृदय शब्द की व्याख्या कर दी। उसकी ब्रह्माण्डस्थ समुद्र से भी तुलना बता दी। उससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड के समान तीन समुद्र हैं, जिन्हें शारीरिक परिभाषा में हृदय कहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति पूर्व निर्देश से भी नाभि और मस्तिष्क को हृदय शब्द वाच्य मानने को तैयार नहीं, उसके लिये हम प्राचीन शास्त्रों के प्रमाण उपस्थित करते हैं। जिनसे नाभि और मस्तिष्क की हृदयपदवाच्यता स्पष्ट हो जाती है।

नाभि के लिये हृदय शब्द का व्यवहार—सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १४ में एक वचन है—

---

१. द्र०—पृष्ठ २१८, टि० २ में उद्धृत चरकपाठ।

२. यजुः १७।९३ में हृद्य समुद्र, सैंकड़ों मार्गों में जानेवाली नाड़ियों का, सोमरूपी घृत की धाराओं, और उनके मध्य हिरण्यय वेतस का उल्लेख है।

"उपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यः तेजोभूतः सारः स रस इति उच्यते । तस्य च हृदयं स्थानम् । स हृदयात् चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य··· कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति ।"

अर्थात्—भक्षण किये अच्छे प्रकार पचे हुए आहार का जो तेजरूप सार है, वह रस कहाता है । उसका स्थान हृदय है । वह रस हृदय से २४ धमनियों में प्रविष्ट होकर — सम्पूर्ण शरीर को प्रतिदिन पुष्ट करता है ।।

पचे हुए आहार से निष्पन्न रस का स्थान नाभि है । लोकप्रसिद्ध उरः-स्थानीय हृदय नहीं है, यह सर्वलोकविदित है । अतः यहां हृदय शब्द नाभि का ही वाचक है । इसकी पुष्टि सुश्रुत के शरीरस्थान अ० ६ से भी होती है । वहां लिखा है—

"चतुर्विंशत्यो धमनयो नाभिप्रभवा अभिहिताः···तासां तु नाभिप्रभवाणां धमनीनां ऊर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रश्च तिर्यगा." ।[1]

अर्थात्—नाभि से निकलनेवाली २४ धमनियां कही जा चुकी हैं ।······ उन नाभि से निकली हुई धमनियों में से दश ऊपर जानेवाली हैं, दश नीचे की ओर, और चार तिरछी ।।

सुश्रुतकार का 'नाभि से निकली २४ धमनियों' का संकेत पूर्वोक्त— 'हृदय से निकलनेवाली २४ धमनियों' की ओर ही है, यह दोनों स्थलों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है । सुश्रुत में सूत्रस्थान अध्याय १४ के अतिरिक्त कहीं भी 'नाभि से निकलनेवाली २४ धमनियों का वर्णन नहीं है ।' अतः 'अभिहिताः' का संकेत उक्त हृदय-पद-घटित वाक्य की ओर ही है, यह स्पष्ट है । भिषक्प्रवर गणनाथ सेन ने 'हृदय' शब्द को केवल लोकप्रसिद्ध अर्थ का वाचक न मानकर इसका मस्तिष्क अर्थ भी दर्शाया है । परन्तु उन्होंने सुश्रुत (सूत्र० अ० १४) के प्रथम उद्धृत वचन में हृदय शब्द को लोकप्रसिद्ध उरःस्थानीय अवयव का वाचक मानकर सुश्रुत के उपर्युक्त दोनों पाठों में विरोध दर्शाया है । वे लिखते हैं—

---

१. तुलना करो—धमन्यो नाभितो जाताश्चतुर्विंशतिसंख्यया । दशोर्ध्वगा दशाधोगाः शेषा तिर्यग्गताः स्मृताः ।। भावप्रकाश पूर्व खण्ड गर्भप्रकरण २६४ ।

"स्वोक्तिविरोधश्च संज्ञार्थव्याकुलीभावनिमित्तः सुश्रुते । यथा सूत्रस्थाने 'हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य' इत्यभिधाय पुनः शारीरे 'चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः' इति सूचनम्" । प्रत्यक्षशारीर भाग १, उपोद्घात पृष्ठ ६६, संस्करण २ ।

यदि गणनाथ सेन जी सुश्रुत के पाठों की सूक्ष्मता से तुलना करते, और उस पर विचार करते, तो वे दोनों पाठों में विरोध दर्शाने की भूल न करते ।

मस्तिष्क के लिये हृदय शब्द का व्यवहार—आध्यात्मिक परिभाषा में आदित्य पद शिर=मस्तिष्क का वाचक है । यजुर्वेद ४०।१७ में कहा है—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।' प्रकरण आत्मा का होने से 'अहं' पदवाच्य यहां आत्मा ही है । इस आत्मारूपी ब्रह्म से परब्रह्म को पृथक् करने के लिये आगे कहा है—'ओम् खं ब्रह्म', ओम् खं=आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म है । उक्त याजुष मन्त्र में उक्त आध्यात्मिक आदित्य को शतपथ ९।१।२।३४ में हृदय कहा है—'असौ वा आदित्यो हृदयम्' । मैत्रायणी आरण्यक ६।३४ में हिरण्यवर्ण शकुन=पक्षी[1]=आत्मा को आदित्यरूप हृदय में प्रतिष्ठित कहा है—'हिरण्यवर्णः शकुनः हृदि आदित्ये प्रतिष्ठितः ।' इस वचन में हृद् (=हृदय) और आदित्य दोनों पदों का निर्देश करके सारी समस्या ही सुलझा दी है ।

अथर्ववेद १९।९।५ का मन्त्र है—

'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्रितानि···।'

इस मन्त्र में मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों को ब्रह्म=आत्मा के साथ हृद् (=हृदय) में स्थित कहा है[2] । इन्द्रियों का स्थान शिर है । इनके तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क=ब्रह्मरन्ध्र वा ब्रह्मगुहा के साथ सर्ववादीसम्मत है । उसी इन्द्रियों के स्थान को इस वचन में हृद (=हृदय) कहा है, और वहीं आत्मा का वास बताया है ।

---

१. आत्मा के लिए पक्षी शब्द का प्रयोग सन्तों की वाणियों में प्रायः मिलता है । लोक में भी यह इस अर्थ में प्रसिद्ध है ।

२. तुलना करो—षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि स्थितम् ॥ चरकसूत्र स्थान ३०।४॥ विज्ञान, इन्द्रियां, पांचों अर्थ (=रूपादि), आत्मा, चेतः (=मन), चिन्त्य ये छः हृदय में स्थित हैं । इसलिये यह हृदयाङ्ग षडङ्ग कहा जाता है ।

निरुक्त ४।१३ में इन्द्रियों को शिर में समाश्रित कहा है—'इदमपि इतरच्छिर एतस्मादेव । समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति ।' ऋग्वेद १।१६४। २१ के 'यत्रा सुपर्णा:०' मन्त्र का व्याख्यान यास्क ने अधिदैवत और अध्यात्म दोनों पक्षों में किया है । अधिदैवत में सुपर्ण आदित्य की रश्मियां हैं, उनका गोपा=रक्षक आदित्य है । अध्यात्म में सुपर्ण इन्द्रियां हैं, इनका गोपा आत्मा है (द्र०—निरुक्त ३।१२) । इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य लिखता है—'अध्यात्मेऽपि हृद्याकाशात् यानि इन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति, त एव रश्मयः' अर्थात् अध्यात्म में हृद् (=हृदय) आकाश से जो इन्द्रियां गति करती हैं, वे वही रश्मियां हैं । अधिदैवत में रश्मियों के प्रसरण का स्थान आदित्य है । अतः अध्यात्म में इन्द्रियों का प्रसरणस्थान हृदयरूपी आदित्य=मस्तिष्क ही है, यह स्पष्ट है ।

आयुर्वेदोक्त चेतनास्थानीय हृदय

चरक सूत्रस्थान अ० १७ में स्पष्ट लिखा है—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।
यदुत्तममङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिति शिर में है । इसे ही अध्यात्मविद् 'हृदय' कहते हैं ।

चरक सूत्रस्थान ३०।७ में कहा है—'तत्परममोजसः स्थानं यत्र चैतन्य-संग्रहः ।' इसमें जहां चैतन्य की स्थिति कही है, उसे परम ओज का स्थान कहा है । यह परम ओज ही वह गोघृतवर्ण ईषत्पीतक[1] द्रव द्रव्य है, जो ब्रह्मगुहा में विद्यमान रहता है । अतः उक्त वचन के अनुसार वहीं चेतन आत्मा का निवास है । 'हृदये चित्तसंवित्' (३।३४) इस योगसूत्र में, तथा 'तद् (=हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्' इस सुश्रुत (शारीर० ४।३१) वचन में ओज के स्थानरूप हृदय में चेतना की स्थिति कही है । चरक निदान स्थान ८।३ में कहा है—'आत्मनः श्रेष्ठमायतनं हृदयम् ।'

इस प्रकार उपर्युक्त चरक सुश्रुत के वचनों को मिलाकर विचार करने से विदित होता है कि आत्मा का आयतनरूपी हृदय लोकप्रसिद्ध हृदय नहीं है ।

---

१. द्र०—पृष्ठ २१८, टि० २।

सुश्रुत (शारीरस्थान अ० ४) में स्पष्ट कहा है—

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥

अर्थात् हृदय कमल के समान अधोमुख है। जाग्रत् अवस्था में वह विकसित हो है, और निद्रावस्था में वह संकुचित होता है ॥

इस सुश्रुत वचन में हृदय का जो अवस्थाभेद से संकोच-विकास धर्म कहा है, वह लोकप्रसिद्ध उर:स्थानीय अवयव का नहीं है। क्योंकि वह तो जाग्रत् वा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में एकसा रहता है। मस्तिष्क के ये दोनों धर्म होते हैं। स्वप्न में कमल के समान संकुचित होने से ही इन्द्रियां बाह्यमुखी नहीं रहतीं, वे बन्द-सी हो जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि यहां हृदय शब्द मस्तिष्क का ही वाचक है।

अब हम इस विषय में आयुर्वेदिक शल्यतन्त्र के पुनरुद्धारक भिषक्प्रवर गणनाथ सेन की सम्मति उद्धृत करते हैं। गणनाथ सेन स्वविरचित 'प्रत्यक्ष शारीर' के नाडीखण्ड के प्रथम पृष्ठ पर 'तत्र साङ्गोपाङ्गं मस्तिष्कं सहस्रदलपद्मसदृशत्वात् सहस्राकारमिति मन्यन्ते योगिन:' की पाद-टिप्पणी में लिखते हैं—

"यत्तु वैद्यके--'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' (चरक) इत्यादि-विरुद्धप्राय-वचनम्, तन्मस्तिष्कमूलस्थिताज्ञाचक्रांशभूतब्रह्महृदयाभिप्रायेण। योगिनो हि षट्चक्रमुपक्रम्य 'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मन: सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्' इति स्पष्टमाहु:; न च मनोविरहिता बुद्धिरस्ति। श्रुतिश्च–'हृदयं चेतनास्थानम्'[1] इत्यादि प्राचीनवचनम्। 'तदपि तदभिप्रायकमेव।' जाग्रतस्तद्विकसति'[2] इत्यादि-निर्देशात् इति दिक्। न च मांसमयमेव हृदययन्त्रं तदिति वाच्यम्? तद्धि न कथमपि तादृग्लक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असम्भवात्। तदेतदखिलमस्मदीये शारीरमीमांसाख्ये ग्रन्थे विस्तरेण स्फुटीकृतं द्रष्टव्यम्।"

अर्थात्—सब प्रकार के ज्ञान का स्थान मस्तिष्क है। यह वैद्यक के 'बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित करके' इस वचन से विरुद्ध नहीं है। वैद्यक-वचन में हृदय शब्द से मस्तिष्क के मूल में स्थित आज्ञाचक्र(=आज्ञाकन्द) का अंशरूप ब्रह्म-हृदय अभिप्रेत है। योगीलोग षट्चक्रों के निरूपण के प्रसंग में

---

१. तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्। सुश्रुत शारीर ४।३१॥

२. सुश्रुत शारीर अ० ४॥

मस्तिष्क के मूल में अवस्थित आज्ञाचक्र का वर्णन करते हुए 'इस पद्म के अन्दर सूक्ष्मरूप मन निवास करता है' ऐसा स्पष्ट कहते हैं। मन से रहित बुद्धि नहीं रह सकती। उपनिषद् में भी—'यह जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें मनोमय पुरुष रहता है' ऐसा लिखा है। सुश्रुताचार्य ने जो 'हृदय चेतना का स्थान है' इत्यादि प्राचीन आचार्यों का मत उद्धृत किया है, वह भी इसी अभिप्रायवाला है (अर्थात वहां भी हृदय से मस्तिष्कावयवभूत ब्रह्म-हृदय ही अभिप्रेत है)। क्योंकि उसके लिये सुश्रुत में 'वह जाग्रत् अवस्था में विकसित होता है, और स्वप्नावस्था में संकुचित होता है' ऐसा कहा है। मांसमय हृदय-यन्त्र ही यहां अभिप्रेत है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें उक्त लक्षण सम्भव नहीं (अर्थात् उसमें जाग्रत् अवस्था में विकसित होना, और निद्रा में संकुचित होना लक्षण नहीं पाया जाता। वह तो दोनों अवस्थाओं में समानरूप से कार्य करता है)। यह सब हमने शारीरमीमांसा ग्रन्थ में विस्तार से स्पष्ट किया है वहां देखना चाहिए॥

उपनिषद्-वचन की मीमांसा

अब रह जाता है तैत्तिरीय उपनिषद् का एक वचन, जिसे उरःस्थानीय हृदयरूपी अवयव में आत्मा का निवास माननेवाले सज्जन उपस्थित करते हैं। वह वचन इस प्रकार है—

"स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके य स्तन इवावलम्बते, स इन्द्रयोनिः। यत्राऽसौ केशान्तो विवर्तते तदपोह्य शीर्षकपाले।" तै० उप० १।६।१॥

अर्थात्—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें मनोमय (=विज्ञानमय) नाशरहित हिरण्मय (=ज्योति से आवृत) पुरुष रहता है। जो तालुओं के मध्य में स्तन के समान लटकता है। वह इन्द्र (=जीव) की योनि (=घर) है। जहां वह केश दोनों शीर्षकपालों को घेरकर मूलविभाग से रहता है, अर्थात् मूर्धप्रदेश।[1]

---

१. तै० उप० शाङ्करभाष्य (दशोपनिषद् शांकरभाष्य) बनारस हितचिन्तक मुद्रालय से मुद्रित, पृष्ठ २६७ में उपनिषद् के 'केशान्तः' पद पर टिप्पणी है—'केशान्तः मूर्धानमारभ्योपरिष्टाद् दशाङ्गुलपरिमितो देशः।' तुलना करो—'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।' यजुः ३१।१॥

इस वचन में 'हृदय में पुरुष का निवास' कहकर अगले ही वाक्य में 'तालु से लेकर कपाल के शीर्षपर्यन्त भाग को इन्द्र का घर कहा है'[1]। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि यहां हृदय शब्द उरःस्थानीय अवयव का वाचक नहीं है। इन्द्र जीव का वाचक है, यह पाणिनि ने 'इन्द्रियमिन्द्रदृष्टम्' (५।२।६३) सूत्र में स्पष्ट कहा है।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि हृदय शब्द मस्तिष्क का भी वाचक है, केवल उरःस्थानीय मांसमय अवयव का ही नहीं। अतः 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कठोप० ६।१७) इत्यादि प्रमाणों से लोक-प्रसिद्ध हृदय अवयव ही आत्मा का निवासस्थान है, ऐसा मानना न केवल अनुचित है, अपितु वेद और शरीरविज्ञान से भी विपरीत है। इसलिये उक्त कठादि श्रुतियों में भी हृदय का अर्थ मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाकन्दों के मध्य वर्तमान ब्रह्मगुहा[2] ही करना उचित है।

अब रह जाता है तीसरा मत—'जीवात्मा सुषुम्ना में निवास करता है'। इस प्रसिद्धि का मूल कारण यही है कि सुषुम्ना का शीर्षभाग ब्रह्मगुहा से संबद्ध है। इसलिये ब्रह्मगुहा में जो ब्रह्मजल है, उसको शारीर परिभाषा में 'मस्तिष्कसुषुम्नान्तरीय जल'[3] संज्ञा से कहा जाता है। यही ओजरूपी अष्टम धातु है,[4] जिससे शरीर ओजस्वी होता है। इसी जल में आत्मा का निवास है[5]। अतः सुषुम्ना के साथ संबन्ध होने से आत्मा का निवास सुषुम्ना में माना जाता है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—उपासनाविषय के अन्त में 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरम्' की हिन्दी-व्याख्या में लिखा है—'कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, उसको ब्रह्मपुर—··· कहते हैं।' यह भाषागत लेख वेदादि सकल वैदिक वाङ्मय से विरुद्ध होने से अप्रमाण है। इसका मूल संस्कृत में नहीं है।

२. आज्ञाकन्दों की आकृति मनुष्य के अंगुष्ठ से मिलती है। द्र०—प्रत्यक्षशारीर भाग ३, पृष्ठ ८५ पर संख्या २२१ का चित्र।

३. द्र०—प्रत्यक्ष शारीर भाग ३, पृष्ठ ८३।

४. द्र०—पूर्व पृष्ठ २१८, टि० २।

५. बाइबल के आरम्भ में लिखा है कि—'परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।' सम्भवतः इस प्रसिद्धि का मूल भी यही रहा हो। इसके साथ पूर्व पृष्ठ २१३ की टिप्पणी ३ भी देखें, जिसमें पुराण और बाईबल पर आसुरी संस्कृति की छाप है, ऐसा लिखा है।

इस प्रकार वैदिक वचनों की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि लोकप्रसिद्ध हृदय या सुषुम्ना दोनों ही मूलत: आत्मा के निवासस्थान नहीं हैं। 'आत्मा का निवास वस्तुत: मस्तिष्कान्तर्गत दोनों आज्ञाचक्रों=(कन्दों) के मध्य ब्रह्मगुहा में ही है। वेद ने आत्मनिवासस्थान का जो वर्णन किया है, वह शरीर के अन्य किसी अवयव पर नहीं घट सकता। अत: वेद के मत में आत्मा का निवासस्थान ब्रह्मगुहा ही है। उपनिषद्-वचनों में हृदय शब्द का अभिप्राय भी उसी स्थान से है। वैदिक वाङ्मय में मस्तिष्क को भी हृदय शब्द से कहा जाता है। सुषुम्ना का मूल भी वहीं संबद्ध है। अत: लोक-प्रसिद्धियों का भी इस अर्थ में अनुगमन हो जाता है॥

——o——

ओज=सेरिब्रोस्पाइनल फ्लूड

श्री स्वामी कृष्णानन्द जी कालेड़ा, कृष्णगोपाल (अजमेर)

ओज का वर्णन वेद-संहिताओं में मिलता है, किन्तु उतना अधिक स्पष्टीकरण नहीं मिलता है। अथर्ववेद काण्ड १२ के ५वें सूक्त में 'उरोजश्च तेजश्च सहश्च बलं च" मन्त्र ७ के पूर्वार्द्ध में मिलता है। इस मन्त्र से ओज, तेज, सह, बल ये सब पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा स्पष्ट होता है। आगे काण्ड १९ के सूक्त ३७ के प्रारम्भ के पूर्वार्ध मन्त्र में 'सह ओजो वयो बलम्' दिया है। इससे भी ऊपर दर्शाया हुआ भाव दृढ़ होता है। तैत्तिरीय संहिता काण्ड ५ के तीसरे प्रपाठक के कई अनुवाकों में ओज शब्द आया है। इनमें ६वें अनुवाक में ओज की प्राप्ति आदित्य से दर्शायी है। उससे अधिक स्पष्टीकरण ऋग्वेद के वचनों में भी नही मिल सका है।

सुश्रुत-संहिता सूत्रस्थान अध्याय १ में भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है— **'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च।······तास्तु द्विविधाः स्थावरा जङ्गमाश्च॥२८॥**

इस वचन से स्थावर (=अनाज आदि), जङ्गम (दूध, घृत, मांस आदि) से बल वर्ण और ओज की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि बल वर्ण और ओज तीनों भिन्न हैं।